

नमामि नर्मदे: थोक रोपण से पनाह मांगते पेड़...!

- घनश्याम सक्सेना

भारतीय संस्कृति की दो आशिष-अवधारणायें हैं- कामधेनु और कल्पवृक्ष। यह चराचर प्रकृति के प्रति हमारे समग्र सार्थक सोच का मॉडल है। गौ के विषय में जाने माने शायर चकबस्त ने कहा है:

कौन है जिसने तिरे दूध से मुंह फेरा है?

आज इस क्रौम की रग-रग में लहू तेरा है।।

वृक्ष के विषय में तो ऋषियों ने कहा: सर्वद्रुमः कल्पद्रुमः अर्थात् सारे वृक्ष ही कल्पवृक्ष हैं। गाय के विषय में एक मंत्र है जो उसे वनस्पति-जगत से जोड़ता है: तृणं चरन्ति अमृतं च यच्छंति तिनके चरकर अमृत (दूध) देती है। यदि वृक्ष-वनस्पति ही नहीं रह जायेंगे तो गौमाता को चरने के लिये तिनके भी कहां से मिलेंगे? आत्मपरीक्षण करें। क्या हमने गत कुछ वर्षों में लाखों हेक्टेयर वनों का विनाश नहीं कर दिया है? आंकड़ों में क्या धरा है क्योंकि जब हम आंकड़ों की बात करते हैं तो पिछले साल का नर्मदा-तट का वह वृक्षारोपण याद आ जाता है जिसमें अल्पावधि में सात करोड़ पौधे लगाने का दावा किया गया था। काश! वह शिव-संकल्प एक शुभ प्रकल्प बन पाता! यहां अपनी एक सौ पचासवीं जयंती के अवसर पर महात्मा गांधी की प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है। गांधीजी का कथन था कि अच्छा काम भी अच्छी नियत से ही किया जाना चाहिये। नर्मदा-वृक्षारोपण प्रसंग में जोर दिया गया गिनीज़ बुक ऑफ रिकॉर्ड्स में थोक-पौधारोपण की उपलब्धि दर्ज कराने पर। तुलसीबाबा ने पांच सौ साल पहले ही कटाक्ष कर दिया था:

जनायबे को अधिक तुलसी जानिबे कों कम।

यक्षप्रश्न यह है कि क्या वृक्षारोपण कोई राजनीतिक टोटका या कर्मकांड मात्र है या फिर इसके पीछे कोई वैज्ञानिक यथार्थ या जीवनाधारित ज़रूरत भी है? चूंकि सर्वविदित है कि वृक्षों से न केवल भूमि और जल का संरक्षण होता है वरन् जीवन की मूल ज़रूरत ऑक्सीजन भी मिलती है, अतः वृक्षों के लाभ बताकर उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। वृक्षों की संस्कृति और उनका विज्ञान इतना सूचना-समृद्ध और प्रमाणपुष्ट हो चुका है कि अब वह जनसाधारण की जुबान पर है, उनके जहन में है। फिर क्या कारण है कि वृक्षों की दुनिया सिकुड़ती जा रही है? हमारी राष्ट्रीय वन नीति कहती है कि देश में लगभग 33 प्रतिशत क्षेत्र में वृक्ष होने चाहिये। ऐसा क्यों नहीं है? उसके कारण भी सब जानते हैं- विशेषकर वे सब जो नीति-निर्माता और कार्यान्वयक हैं। बताते हैं कि बहुत सा वनक्षेत्र नगरीकरण या सिंचाई-बांधों जैसी विकास योजनाओं की बलि चढ़ जाता है। मगर याद रहे कि इन योजनाओं में क्षतिपूर्ति वनीकरण का अंतरनिहित प्रावधान रहता है। इसके लिये बजट भी रहता है। विशेषज्ञता भी है। फिर यथार्थतः क्षतिपूर्ति क्यों नहीं हो पाती? वन-विभागों में एक प्लान्टेशन-मद है- बिगड़े वनों का सुधार। स्वयं मध्यप्रदेश में इस मद में गत साठ वर्षों में अरबों के व्यय से हजारों हेक्टेयर में वनीकरण किया गया किन्तु लगता है कि बिगड़े वन इतने बिगड़ैल हैं कि सुधरने को तैयार ही नहीं हैं। ज़ाहिर है कि क्षतिपूर्ति एक ज़मीनी हकीकत नहीं बन पाई है।

कोई अठारह वर्ष के अन्तराल में मुझे इसी विषय पर दो पुस्तकें लिखने के प्रसंग में बहुत कुछ खोजबीन करने की कवायद करना पड़ी। सन् 1990 में एक अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई "द फॉरेस्ट क्राइसिस" और सन् 2008 में दूसरी पुस्तक हिन्दी में आई "जंगल-सत्य और जंगल-सत्याग्रह।" थीसेस यह निकली कि यद्यपि व्यक्तिगत स्तर

पर तो हम परिणाम-मूलक हैं यानी पौधे लगाना और उनकी रक्षा करना हमारी संस्कृति है किन्तु संस्थागत स्तर पर हम लक्ष्य-मूलक हैं। हमें यह घोषित करके अच्छा लगता है कि हमने वन महोत्सव में भारी संख्या में पौधे लगाकर लक्ष्य-पूर्ति कर ली। शायद यही कारण है कि मानव निर्मित वनों की अवधारणा खरी नीति होने के बावजूद खोटी नियत होने की वजह से सवालों के घेरे में है। तब क्या नर्मदा तट का नमामि-नर्मदे पौधारोपण भी कोई ऐसा ही मौसमी कर्मकांड या राजनीतिक स्टंट था? जी नहीं। अवधारणा के स्तर पर यह अत्यंत उपयोगी संकल्प था किन्तु अवधारणा और अमल के बीच की खाई शायद ही कभी भरी जा सकी। संकल्प, प्रकल्प नहीं बन पाया। रामचरित मानस में एक बहुत सार्थक चौपाई है जो उसके युग प्रवर्तक रचयिता गोस्वामी तुलसीदास के व्यवहारिक पर्यावरण-ज्ञान को भी रेखांकित करती है:

सजल मूल जिन सरतहिं नांहीं।

बरसि गये, पुनि जांहि सुखांहीं।

अर्थात् जिन नदी-नालों के स्रोत पर नमी नहीं रहती, वे वर्षा समाप्त होते ही सूख जाते हैं। हमारे देश और प्रदेश की अनेक नदियों की यही स्थिति है। नर्मदा जिसे हम जीवनरेखा कहते हैं, गर्मियों में कहीं-कहीं इतनी उथली हो जाती है कि उसे लोग पैदल पार करने लग जाते हैं। अन्य कारणों में इसका मुख्य कारण यही है कि उसके स्रोत, जलग्रह क्षेत्र यानी कैचमेंट एरिया और सहायक नदियों का पर्यावरण नमी विहीन हो जाता है। इसे तो विसंगति ही कहा जायेगा कि हमारी नदियां एक साथ बाढ़ और सूखे से प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती रहती हैं। पर्यावरणविद् कहते हैं कि इसका मुख्य कारण नदी-स्रोतों और उनके जलग्रह क्षेत्रों का वन-वनस्पति विहीन हो जाना है। पर्यावरणविद् यह भी कहते हैं कि वृक्ष और वनस्पतियां जल के थोक और खुदरा व्यापारी हैं।

आइये! एक श्लोकांश का मनन करें: नमोवृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः "हम वृक्षों की वंदना करते हैं क्योंकि वे, देवाधिदेव महादेव के केशों के समान हैं।" भूमि और जल संरक्षण के लिये कार्यरत विशेषज्ञ जानते हैं कि इसी श्लोकांश में उनके मिशन का सारभूत तत्व प्रतीक रूप में अंतरनिहित है। गंगावतरण के समय शिव ने गंगा के वेग को पहले अपनी जटाओं में धारण किया क्योंकि यदि उनका सीधा जलावतरण पृथ्वी पर होता तो वह उसका वेग न झेल पाती। इससे तो पृथ्वी के बहने का संकट उत्पन्न हो जाता। पर्यावरणीय-संदर्भ में वृक्ष ठीक वही करते हैं जो शिव की जटाओं ने किया। वृक्षों के वितान वर्षा के प्रथम प्रहार को झेलकर भूमिक्षरण को रोकते हैं। फिर उनकी जड़ें और उनके नीचे जमा कूड़ा-करकट या वनस्पति अवशेष धरती पर वर्षा जल के बहाव को नियंत्रित करते हैं और भूमिगत जल के जखीरे को बनाये रखते हैं। इससे एक ओर बाढ़ नियंत्रित होती है तो दूसरी ओर भूमिगत जल के बने रहने से सारे जलाशय सक्रिय बने रहते हैं और गर्मियों में भी सूखा नहीं पड़ता। इस दृष्टि से नर्मदा किनारे का वृक्षारोपण अभियान एक क्रांतिकारी पर्यावरणीय प्रकल्प हो सकता था बशर्ते कि उसे उसी भावना से अमल में लाया जाता जिस भावना से अवधारणा बनी थी।

फिर चूक कहां हो गई ? इस काम को कुछ निहित स्वार्थों ने जिनमें पॉलिटिकल नेतृत्व और ब्यूरोक्रेटिक-तंत्र दोनों ही शामिल थे, एक ऐसा दिखावा बना दिया जो अल्पावधि और सीमित रोपण-साधनों के बावजूद, राष्ट्र का सबसे बड़ा वृक्षारोपण अभियान बनकर गिनीज़ बुक ऑफ रिकॉर्ड के पन्नों पर चमकने वाला था। एन-केन-प्रकारेण, यथार्थ या रूमानी स्तर पर सात करोड़ पौधे रोपकर एक रिकॉर्ड बनाना था। एक क्षण के लिये पुनः रामचरित मानस की शरण चलें:

सचिव, वैद्य, गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस।

राज, धर्म, तन तीन कर होई वेग ही नास।।

उक्त वृक्षारोपण अभियान में कुछ ऐसा ही हो गया। राजनीतिक नेतृत्व के मन में जो था तकनीकी विशेषज्ञ ने उसे हवा दे दी। उनकी उपलब्धियों के करिश्मे रेखांकित किये गये कि उन्होंने पहले भी कहां-कहां ऐसे ही अकल्पनीय लक्ष्यों को हासिल किया है। फिर क्या था। जिस प्रकार हनुमान की पूंछ जलाने के लिये लंका के लोग सभी स्रोतों से रुड़, तेल आदि एकत्रित करने में जुट गये थे उसी प्रकार सन् 2018 में मध्यप्रदेश की नौकरशाही वास्तविक और काल्पनिक पौधे मुहैया कराने में जुट गई। प्रशासन तो शासन पर हावी हो गया। राजनीति की इच्छा, वक्त की तंगी और थोक-खरीदी का मौका यह नौकरशाही के एक वर्ग के लिये कुछ ऐसी त्रिवेणी है जिसमें समयसिद्ध महत्वाकांक्षायें सनातन काल से हाथ धोती रही हैं।

वन-विभागों के पास वृक्षारोपण की वैज्ञानिक विशेषज्ञता है। यदि बाध्यता न होती तो वे साफ बता देते कि सात करोड़ पौधे नर्सरियों में उगाना, इतना विस्तृत रोपण-स्थल चयन करना, इतने गड्ढे खोदकर स्थल तैयार करना, इनके रोपण हेतु एक भारी-भरकम भूमि सेना भर्ती करना, तत्संबंधी बजट मुहैया कराना और इनका रखरखाव इतनी अल्पावधि में असंभव और दुष्कर दोनों हैं। पूरी सरकारी मशीनरी के अलावा जन अभियान परिषद जैसे नौसिखिये इस काम में झोंक दिये गये और सबने अपने-अपने अवसर तलाशे। नतीजा वही हुआ जो होना था। संबंधित अधिकारी ने सेवावृद्धि ले ली। रोपित पौधों, गड्ढों और जिन्दा बचे पौधों की गिनती हो रही है। राजनीतिक नेतृत्व और नौकरशाही का एक वर्ग आरोपों के घेरे में है। जन अभियान परिषद की साख ? गिनीज बुक ऑफ रिकॉर्ड में दर्ज होने की तमन्ना महज मर्ज बनकर रह गई।

न खुदा ही मिला न विसाले-सनम।

न इधर के रहे न उधर के रहे॥

एक अच्छे अभियान को बुरी नजर लगने की इस दुर्घटना से हमें सबक लेना चाहिये। योजनायें गंभीरता से बनाई जाती हैं। दयानतदारी से कार्यान्वित की जाती हैं। उनकी सफलता निश्चय ही रिकॉर्ड बना देती है। काम बोलता है। भारत सरकार के एक पूर्व-सचिव बी.वी. वोहरा ने कहा था कि "कोई भी लक्ष्योन्मुख थोक वृक्षारोपण की योजना वृक्षों के हित में तो नहीं है। पेड़ पनाह मांगने लगते हैं। योजनायें परिणामोन्मुख होनी चाहिये।" उनका सुझाव था कि राजस्थान (180 लाख हैक्टेयर) के पश्चात् सर्वाधिक पड़त भूमियां मध्यप्रदेश (197.47 लाख हैक्टेयर) में ही हैं। इसके अलावा कोई 201 लाख हैक्टेयर नान-फॉरेस्ट और फॉरेस्ट-डिग्रेडेड (बिगड़े वन) क्षेत्र है। अतः इनमें वनीकरण का अभियान प्राथमिकता पर चालू किया जाना चाहिये। इस अभियान में रोजगारमूलक संभावनायें बहुत हैं। फ़िलहाल राहत इंदौरी का यह शेर मुलाहिजा करें:

ये फल जो खा रहे हो पके-पकाये हुये।

ये पेड़ तुम को मिले हैं लगे-लगाये हुये।

(लेखक वन विभाग के रिटायर जनसम्पर्क प्रमुख हैं)

(प्रस्तुति: मनुज फीचर सर्विस)

नोट: मनुज फीचर सर्विस में छपे लेखों के विचार लेखक के अपने हैं। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। मनुज फीचर सर्विस का उल्लेख अवश्य करें।